

# मतारोपण

रॉबिन बारो एवं रोनाल्ड वुड्स

शिक्षा का एक मकसद सोच-समझकर अपना निर्णय लेने वाले इंसान तैयार करना है। शिक्षा की इस परिभाषा के साथ वे सभी प्रक्रियाएं मेल नहीं खातीं जो सोच-समझकर निर्णय लेने की क्षमता को कुंद करती हैं। मतारोपण एक ऐसी ही प्रक्रिया है। यह लेख मतारोपण के अर्थ, कब और किन स्थितियों में कहा जाएगा कि मतारोपण हो रहा है तथा इसके शैक्षिक प्रक्रियाओं के लिए निहितार्थों की चर्चा करता है। यह लेख रॉबिन बारो और रोनाल्ड वुड्स की पुस्तक 'एन इन्द्रोडेक्शन टू फिलोसॉफी ऑफ एज्युकेशन' से लिया गया है।

1975 में जब इस पुस्तक का पहला संस्करण छपा था, शिक्षा-दार्शनिकों की मतारोपण (इनडोक्त्रिनेशन) की अवधारणा में काफी रुचि थी। हो सकता है कि यह रुचि इसलिए रही हो क्योंकि सतही स्तर पर देखने पर यह अवधारणा शिक्षा के बिलकुल विपरीत नजर आती है। इसलिए शायद यह लगा हो कि यह शिक्षा की प्रकृति पर रोशनी डालने में व हमारी मदद कर सकेगी। पर बात केवल इतनी ही नहीं थी। वह समय शीतयुद्ध का था। कोरिया व वियतनाम में युद्ध भी छिड़ा हुआ था। इस पृष्ठभूमि में यह भावना भी व्यापक थी कि मतारोपण और उससे जुड़ी 'ब्रेन-वॉशिंग' जैसी गतिविधियां काफी प्रचलित होंगी। कुछ समय बाद, 1988 में इस पुस्तक के तीसरे संस्करण की तैयारी चल रही थी। तब इस बात पर गंभीरता से सोचा गया कि 'मतारोपण' संबंधी अध्याय को पूरी तरह हटा दिया जाए। इसलिए क्योंकि 'मतारोपण' शब्द का प्रचलन तब उतना आम नहीं रह गया था। साथ ही यह भी लगने लगा था कि शायद अब मतारोपण का उपयोग पहले जितना हो भी नहीं रहा है। इन दो बिन्दुओं में पहला आज भी मोटे तौर पर सच है: अखबारों की रुचि ब्रेन-वॉशिंग

की सनसनीखेज खबरों में अब उतनी नहीं लगती। लोग भी 'मतारोपण' पर खास बात नहीं करते। परन्तु उसके उपयोग संबंधी जो दूसरा बिन्दु है वह उस वक्त सही था या नहीं, यह विवाद का मसला हो सकता है। परन्तु आज के संदर्भ में यह निश्चित रूप से सही नहीं है।

मतारोपण आज एक असलियत है। इस बात के पुख्ता सबूत हैं कि दुनिया में बंद दिमागों, सिद्धान्तवादियों और कट्टरपंथियों की भरमार है। हालांकि इनमें से कोई भी शब्द 'मतारोपण' का समानार्थी नहीं है, ये सभी हमें मतारोपण के जगत में ले जाते हैं। आज आपको ऐसे आतंकवादी मिलेंगे जिनका दृढ़ विश्वास है कि उनका पक्ष पूरी तरह उचित है। ऐसे लोग मिलेंगे जो अपने ही समर्थकों को मौत को गले लगाने के लिए प्रेरित करते हैं क्योंकि उनका अटल विश्वास है कि सत्य तक केवल उनकी ही पहुंच है। ऐसे भी, जो तमाम सबूतों के बावजूद नात्सी जर्मनी में यहूदियों के नरसंहार को नकारते हैं। ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो अपनी धार्मिक मान्यताओं का विवेचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण नहीं कर सकते। कुछ लोग अपने देश को इतनी अहमियत देते हैं कि उसकी नीतियों में सही या गलत का भेद नहीं कर पाते। तो दूसरे न तो अमरीका/पाकिस्तान 'महा शैतान है' जैसे वक्तव्य पर सवाल उठा सकते हैं, न ही अमरीका/भारत 'धरती पर खुदा का बनाया लोकतंत्र' है पर। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो किसी पंथ, विश्वास या विचारधारा के नाम पर अपने ही साथी इंसानों पर भयंकर अत्याचार ढाते हैं। ये सभी इस बात के सबूत हैं कि

रॉबिन बारो

जाने-माने समकालीन शिक्षा दार्शनिक, कनाडा की सिमॉन फ्रेसर यूनिवर्सिटी, ब्रिटिश कोलम्बिया में शिक्षा दर्शन के प्रोफेसर हैं।

रोनाल्ड वुड्स

यूनाइटेड किंगडम की लेसिस्टर यूनिवर्सिटी में शिक्षा दर्शन के सीनियर लेक्चरर हैं।

किसी न किसी अर्थ में और किसी न किसी हद तक मतारोपण एक वास्तविकता है।

मतारोपण का सार-तत्व न तो इस बात में निहित है कि व्यक्ति की धारणा किस हद तक दृढ़ है, न ही इसमें कि उसका लक्ष्य वांछनीय है या अवांछनीय। बल्कि वह सार एक बिलकुल अंधी और अटल कटिबद्धता में स्थित होता है। मतारोपण में कुछ ऐसा है जो तर्क और विवेक के परे है। यही कारण है कि मतारोपण शिक्षा के विपरीत है। दरअसल ऐसी तमाम अन्य चीजें भी हैं जो शिक्षा से भिन्न या फिर शिक्षा से असंगत हैं। परन्तु मतारोपण तो शिक्षा को उलट कर औंधा कर देने जैसा है। अतः यह ज़रूरी है कि मतारोपण की अवधारणा पर विचार किया जाए। आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि इससे हमें शिक्षा को समझने में मदद मिलेगी। पर अंशतः इसलिए भी क्योंकि मतारोपण में विवेक के मूल्य को नकारा जाता है। आज वह एक ऐसी असलियत है जो केवल आतंकवादी इकाइयों तक ही सीमित नहीं है। पश्चिम के कुछ कट्टर धार्मिक समूह कम से कम उतने मतांध तो हैं ही जितने अल-कायदा के सदस्य।

परन्तु जो लोग असल में किसी विचार के प्रति कटिबद्ध हों उनमें और जो मतारोपण के कारण कट्टर बन गए हों उनमें भेद कैसे किया जाए? वे कौनसे मानक हैं जो हमें यह तय करने देंगे कि आप जो मानते हैं वह ठोस युक्तियों पर आधारित है या फिर मतारोपण पर? अर्थात् कौनसे लक्षण मतारोपण को परिभाषित करते हैं?

अगर इस बात पर आम सहमति हो कि शिक्षा में पढ़ाने के केवल नैतिक रूप से स्वीकृत तौर-तरीकों का ही उपयोग किया जा सकता है, तो ज्यादातर लोग तत्काल इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि फिर तो शिक्षा में मतारोपण का कोई स्थान है ही नहीं। 'मतारोपण' शब्द भावात्मक अर्थ से भरा है। और अधिकतर लोगों के लिए यह एक निन्दनीय शब्द है। पर इसका वर्णनात्मक अर्थ दरअसल क्या है? अगर पहली नजर में इसका मतलब यह लगता है कि शिक्षकों को मतारोपण नहीं करना चाहिए तो उनके लिए यह जानना भी ज़रूरी होगा कि मत को आरोपित करना होता क्या है। मत को आरोपित करने का विश्लेषण शायद यह समझने में भी मददगार होगा कि इसे एक आपत्तिजनक व्यवहार क्यों माना जाता है।

जाहिर है कि मतारोपण में लोगों को कुछ मान्यताओं या विश्वासों को स्वीकारने पर बाध्य किया जाता है। अगर किसी शिक्षक के पास किसी बच्चे विशेष की साल भर के लिए जिम्मेदारी है। और अगर उस अवधि के पूरे होने तक शिक्षक ने बालक के मन में किसी प्रकार के कोई भी विश्वास नहीं बैठाए हैं तो वह जो कुछ भी करता रहा है या करने की कोशिश की है, उसने बच्चे पर अपने मत नहीं लादे हैं। अर्थात् हमें मतारोपण और अनुकूलन में फर्क करना होगा। किसी को अनुकूलित करने का मतलब है उसे किसी खास तरह से आचरण करना सिखाना। इसमें विश्वासों का संदर्भ होना ज़रूरी नहीं होता। उदाहरण के लिए, हम चूहों को विभिन्न उद्दीपनों पर कुछ खास प्रतिक्रियाएं करने के लिए अनुकूलित करने की बात करते हैं। पर हम चूहों पर मतारोपण की बात नहीं करते। इसलिए क्योंकि हम यह मानते हैं कि चूहों की मान्यताएं या उनके विश्वास नहीं होते।

पर यह भी उतना ही साफ है कि अगर शिक्षक ने बच्चों को कुछ विश्वास प्रदान किए भी हैं तो यह तथ्य इस बात का पर्याप्त संकेत नहीं कि उसने उन पर मत लाद दिए हैं। अगर मैं आपको यह विश्वास दिला देता हूँ कि विश्व में ऊर्जा संकट है, तो इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि मैंने आप पर मतारोपण कर दिया है। मतारोपण की एक आवश्यक शर्त यह है कि मान्यताओं या विश्वासों को दिया जाए, पर केवल इतना भर काफी नहीं होता। कहने का मतलब यह है कि किसी भी तरीके से किसी भी प्रकार के विश्वास प्रदान करना स्वतः ही मतारोपण नहीं बन जाता।

तो फिर मतारोपण हो रहा है यह निष्कर्ष निकालने के लिए कौनसी दूसरी शर्तों का होना ज़रूरी है? मतारोपण की अवधारणा में विश्वास पैदा करने के अलावा क्या जुड़ा होता है? बच्चों में कुछ विश्वास या मान्यताएं स्थापित करने के लिए सिखाने-पढ़ाने की जो तमाम दूसरी गतिविधियां की जाती हैं, उनसे मतारोपण किस तरह से भिन्न है?

हम एक प्रतिमान दृष्टान्त से शुरू करते हैं। मतलब एक ऐसे उदाहरण से जिस पर कोई विवाद न हो। जिसे लगभग सभी लोग मतारोपण का उदाहरण मानें। फिर चाहे मतारोपण की अवधारणा में अनिवार्य रूप से क्या मौजूद होना चाहिए को लेकर उनकी दृष्टि भिन्न-भिन्न ही क्यों न हो। इस उदाहरण के विभिन्न तत्वों को अलग-अलग करने और उन पर बारी-बारी से चिंतन करने से संभवतः हम यह तय कर पाएंगे कि उनमें से कौनसे तत्व मतारोपण के लिए आवश्यक हैं और कौनसे संभाव्य या सांयोगिक।

किसी कैथलिक स्कूल की कल्पना करें (हम चाहें तो किसी कट्टर हिन्दू या मुसलमान या दूसरे किसी पंथ के स्कूल की भी कल्पना कर सकते हैं) जिसमें सभी शिक्षक प्रतिबद्ध कैथलिक हों और जहां सभी बच्चे कैथलिक परिवारों से आते हों। और उनके माता-पिता चाहते हों कि उनका लालन-पालन कैथलिकों के रूप में ही किया जाए। यह कल्पना भी करें कि वहां के सभी शिक्षक बच्चों को धर्मपरायण कैथलिकों के रूप में बड़ा करने को प्रतिबद्ध हों। वे सायास अपने शिक्षार्थियों में कैथलिक धर्म के सत्य के और उसके विभिन्न दावों व स्थापनाओं के प्रति अटूट आस्था स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। वे अपने शिक्षार्थियों में 'पोप अखंडनीय हैं', मतलब वे कभी गलती कर ही नहीं सकते, 'कृत्रिम गर्भ-निरोधक उपायों का उपयोग नहीं करना चाहिए' और 'ईश्वर (कैथलिक मत में ईश्वर की परिभाषा के अनुरूप) का अस्तित्व है' जैसी स्थापनाओं में संदेह रहित विश्वास पैदा करते हैं। यह विश्वास ऐसा होता है कि जो लोग इन स्थापनाओं को नहीं स्वीकारते उन्हें ये शिक्षार्थी भ्रमित या गलत सोचने वाला मान लेते हैं। उनके सामने चाहे कितने भी ऐसे तर्क रखे जाएं जो कैथलिक धर्म की स्थापनाओं पर संदेह जगाते हों, उनकी आस्था अटूट बनी रहती है। हम मान लेते हैं कि इन शिक्षार्थियों के शिक्षकों ने कैथलिक धर्म के दावों पर उठाए जाने वाले सभी संदेहों और आपत्तियों के जवाब रटाकर उनके दिमागों में ठूस दिए हैं। धर्म के प्रति ऐसी निष्ठा बनाने के लिए शिक्षक विविध तकनीकों का उपयोग करते हैं। संभव है कि कुछ स्थापनाओं को वे तार्किक स्पष्टीकरणों के साथ पेश करें। तो कुछ को शिक्षक के आचरण द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के माध्यम से। इसके अलावा दुनिया को देखने का उनका जो खास नजरिया है उसे और उस हिसाब से दुनिया में मानव का जो स्थान है, उसे स्वीकारने और पुख्ता बनाने के लिए, ये शिक्षक तारीफ या निंदा का उपयोग करें। या फिर सीधे अपनी सत्ता का इस्तेमाल करें।

ये शिक्षक मतारोपण कर रहे हैं इस पर किसी को शक नहीं हो सकता है। पर हमारा सवाल अब भी जस का तस खड़ा है : 'इसे मतारोपण क्यों कहें? उपरोक्त उदाहरण में जो कुछ भी कहा गया उसमें ऐसा क्या है जो यह संकेत दे कि यह मामला मतारोपण का ही है? इस दृष्टान्त में जितनी भी विशेषताएं मौजूद हैं क्या उन सबके होने पर ही किसी मामले को मतारोपण का उदाहरण कहा जाएगा? या फिर इस उदाहरण के वर्णन में कुछ फेर-बदल कर दिया जाए तब भी हम इन शिक्षकों को मत आरोपित करने वाले कहेंगे? इन सवालों के जवाब तब ही दिए जा सकते हैं जब हम उपरोक्त उदाहरण की सभी विशेषताओं को एक-एक कर अलग से जांचें।

## विषयवस्तु

इस उदाहरण की एक उल्लेखनीय खासियत यह है कि बच्चों को जिन विश्वासों को स्वीकारने के लिए तैयार किया जा रहा है, वे विश्वास एक खास किस्म के हैं। कैथलिकवाद विश्वासों की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें कई परस्पर संबंधित विचार हैं। ये विचार ऐसी स्थापनाओं व सिद्धान्तों पर आधारित हैं जिनको निर्विवाद रूप से सच प्रमाणित नहीं किया जा सकता। पर जो व्यक्ति इसे स्वीकार लेता है, उसका दुनिया को देखने का और अपने जीवन को जीने का तरीका प्रभावित होता है।

जब हम यह कहते हैं कि किसी तर्कवाक्य या विचार को निर्विवाद रूप से सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता तो जरूरी नहीं कि हम उसकी सत्यता को नकार रहे हों। जिस तर्कवाक्य को निर्विवाद रूप से सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता हो उसे निर्विवाद रूप से झूठा भी साबित नहीं किया जा सकता। कोई प्रस्ताव सत्य है या गलत यह साबित करने के लिए हमें प्रमाण चाहिए होते हैं। उसे निर्विवाद रूप से सही या गलत साबित करने के लिए कैसे सबूत चाहिए, अगर इस पर सहमति हो तो हम उन्हें प्रामाण्य तर्कवाक्य (proposition) कहते हैं। पर इस पर सहमति न हो तो वे

अप्रमाण्य तर्कवाक्य होंगे। अतः अगर हम यह कहते हैं कि 'गर्म होने पर धातुएं फैलती हैं', 'रविन्द्रनाथ ठाकुर ने गीतांजलि की रचना की थी' या 'एक ऐसा ग्रह है जो हरी पनीर का बना है', तो ये सभी प्रमाण्य तर्कवाक्य हैं। अर्थात् इन तर्कवाक्यों को सिद्धान्ततः सही या गलत सिद्ध किया जा सकता है। फिर चाहे हममें से कई लोग पक्के तौर पर यह न भी जानते हों कि वह कथन सही है या गलत। मतलब हम इस बात पर सहमत हैं कि किस तरह का सबूत उसे सही या गलत सिद्ध करेगा।

जिन तर्कवाक्यों को प्रमाणित नहीं किया जा सकता उसके कुछ उदाहरण देखें। 'ईश्वर का अस्तित्व है'। 'पोप कभी भूल नहीं कर सकता'। 'सभी इंसानों को आजाद होना चाहिए'। 'आर्थिक कारण ही बुनियादी रूप से सामाजिक बदलावों को तय करते हैं'। इन तर्कवाक्यों को सही या गलत सिद्ध करने के लिए सबूत कैसा हो या उन सबूतों की व्याख्या कैसे की जाए, इस पर आम सहमति नहीं है। मैं कैथलिक नहीं हूँ, सो मेरे लिए ऐसे मजबूत ऐतिहासिक प्रमाण हैं जो यह दर्शाते हैं कि पोप अखंडनीय नहीं है। पर आस्थावान कैथलिक के लिए इन प्रमाणों के स्पष्टीकरण मौजूद हैं। मतलब उसके लिए उन प्रमाणों का कोई अर्थ नहीं है। कई लोग यह मानते हैं कि दुनिया में मौजूद कष्ट और दुःख इस बात के प्रमाण हैं कि एक सर्वव्यापी और प्रेम करने वाले ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। ईश्वर में आस्था रखने वाला कष्ट और दुःख को नहीं नकारता। पर वह इन्हें ईश्वर के न होने का प्रमाण भी नहीं मानता। धर्म में अविश्वास करने वाले ईश्वर की धारणा के विरुद्ध जितने भी साक्ष्य क्यों न पेश करें (जैसे हम उसे देख, सुन, छू नहीं सकते आदि-आदि) उन सबको आस्थावान अप्रासंगिक करार देता है। पर अगर कोई प्रमाण स्वीकार्य ही न हो तो फिर यह विश्वास किस तरह का है? तय है कि इस विश्वास को हम सही या गलत साबित ही नहीं कर सकते। इसी तरह जो लोग सामाजिक बदलाव की आर्थिक व्याख्या मात्र के प्रति कटिबद्ध हैं वे अपनी आस्था के चलते सामाजिक बदलाव के समूचे इतिहास को केवल इसी दृष्टि से देखते हैं। सभी लोगों को आजाद होना चाहिए जैसे बुनियादी नैतिक दावों को सही या गलत साबित करने के लिए किस तरह का सबूत मान्य होगा यह स्पष्ट नहीं है। ऐसे तर्कवाक्य जिनकी न तो पुष्टि हो सकती है न खंडन ही, वे दरअसल दुनिया की व्याख्या करने में हमारा मात्र मार्गदर्शन ही कर सकते हैं। उपरोक्त सभी मामलों में जो लोग किसी तर्कवाक्य की सच्चाई के प्रति कटिबद्ध हैं उनके लिए कोई प्रमाण मायना नहीं रखता। जबकि जिन्हें उनकी सच्चाई पर संदेह है वे अनेक प्रमाण पा लेते हैं। यह स्थिति उससे भिन्न है जिसमें दो लोगों में इस बात पर असहमति हो कि गर्म होने पर धातुएं फैलती हैं या नहीं। पर इसके बावजूद वे सिद्धान्ततः इस पर सहमत हैं कि तर्कवाक्य को सिद्ध करने या उसके खंडन के लिए कौनसा प्रमाण मान्य होगा।

इससे यह साफ हो जाता है कि राजनीतिक, धार्मिक और नैतिक विश्वासों की सभी प्रणालियां सिद्धान्त-संबंधी होती हैं। कम से कम इस अर्थ में कि बुनियादी राजनीतिक, धार्मिक और नैतिक सूत्र ऐसे तर्कवाक्य होते हैं जिनकी सच्चाई को सही या गलत साबित करने का कोई सर्वमान्य मानक नहीं होता। इसका यह मतलब नहीं है कि जो लोग किसी सिद्धान्त को मानते हों वे सब गलत हैं। चाहे वह सिद्धान्त मार्क्सवाद हो, उदार-लोकतंत्रवाद हो, कैथलिकवाद हो, अनीश्वरवाद हो या कुछ और ही। सच तो यह है कि ऐसे इंसान की कल्पना करना कठिन है जो किसी भी सिद्धान्त में विश्वास न करता हो। न ही इसका मतलब यह कहना है कि जो कटिबद्ध सिद्धान्तवादी होते हैं वे विवेकहीन होते हैं। कहा केवल इतना जा रहा है कि : 1) 'एक सर्वव्यापी ईश्वर का अस्तित्व है' जैसे तर्कवाक्य इस रूप में विशिष्ट हैं कि उनकी सत्यता या असत्यता को निर्विवाद रूप से दर्शाया नहीं जा सकता। 2) सिद्धान्त-प्रणाली (या विचारधारा) व्यक्ति को दुनिया को एक खास तरह से देखने और अपने जीवन को एक खास तरह से जीने का आदेश देती है। यह तरीका ऐसे तर्कवाक्यों पर आधारित होता है जिन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता। और 3) ऐसी ही सिद्धान्त-प्रणाली का एक उदाहरण है कैथलिकवाद।

इस बात पर बहस की जा सकती है कि केवल सिद्धान्तों या मतों को ही आरोपित किया जा सकता है यह दावा करने वाले दार्शनिक सही हैं या नहीं। कुछ लोग यह तर्क करेंगे कि 'मतारोपण' और 'मत' में जो उत्पत्तिमूलक संबंध है उससे कुछ खास सिद्ध नहीं होता। और यह भी कि गलत या फिर सही विचारों को भी आरोपित करने की अवधारणा अजीब नहीं है। वास्तविकता कुछ भी क्यों न हो, इतना स्पष्ट है कि तार्किक आवश्यकता के कारण या

प्रासंगिक तथ्य के कारण सिद्धान्तों या मतों के संदर्भ में ही मतारोपण से हम अमूमन डरते हैं। अर्थात् जब शिक्षक या माता-पिता किन्हीं मतों पर विश्वास स्थापित करते हैं तब हम अधिक चिंतित होते हैं। बजाय तब जब वे 2 गुणा 2 बराबर 4, जैसे सत्य को बच्चों के मन में स्थापित करते हैं। अतः हम सुविधा के लिए यह मान सकते हैं कि मतारोपण में किसी सिद्धान्त या मत पर विश्वास दिलाया जाता है। सो अगला सवाल यह उठता है कि क्या किसी मत पर विश्वास दिलवाना, उसे मतारोपण कहने के लिए पर्याप्त है? क्या जो कोई भी किसी दूसरे इंसान को किसी सिद्धान्त पर विश्वास करने में योगदान दे, वह उस पर मत आरोपित कर रहा है?

मैं यह तर्क करना चाहूंगा कि इस सवाल का जवाब 'न' है। इसलिए क्योंकि मतारोपण की तीन और भी आवश्यक शर्तें हैं।

### अटल प्रतिबद्धता

हमने मतारोपण के जिस प्रतिमान उदाहरण से चर्चा शुरू की थी उसमें एक और विशेषता भी थी। वह यह कि बच्चों के मन में कैथलिक मत के सत्य के विषय में अटूट आस्था स्थापित करना शिक्षकों का एक सरोकार था। वे केवल कैथलिकवाद और उससे जुड़ी सभी बातों को, दुनिया को देखने की उसकी खास दृष्टि को, उस दृष्टि के अनुरूप दुनिया में इंसान के स्थान मात्र को ही बच्चों के सामने रखना भर नहीं चाहते थे। उनके लिए यह काफी नहीं था कि बच्चे यह सब जान लें और तब स्वयं तय करें कि वे इन विश्वासों को अपनाना चाहते हैं या नहीं। इन विश्वासों को सत्य के रूप में पेश किया गया था। सो मतारोपण की एक और आवश्यक शर्त हमें इसमें मिलती है। किसी मतारोपित व्यक्ति का सबसे जाहिर लक्षण यह है कि उसका एक खास नजरिया होता है। वह अपने दिमाग को कभी इस संभावना के प्रति गंभीरता से नहीं खोलता कि उसका नजरिया गलत भी हो सकता है। जिन विश्वासों को उसने स्वीकार लिया है वे सही हैं या गलत पर उसका दिमाग बंद होता है। अगर हम बंद दिमाग को मतारोपण की एक आवश्यक शर्त नहीं मानते, तो यह निष्कर्ष भी मानना होगा कि हम सब मतारोपित हैं। इसलिए क्योंकि हम सभी दरअसल अपना जीवन, विश्वासों की किसी न किसी प्रणाली के अनुसार जीते हैं। और ये विश्वास ही दुनिया की व्याख्या करने में हमारी मदद करते हैं। अगर हम मतारोपण के विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हम सभी पर कोई न कोई मत आरोपित होता है तो फिर इस अवधारणा पर आगे चर्चा करने की जरूरत ही नहीं है। पर अगर मतारोपित होने का मतलब बंद दिमाग वाला होना है, तो फिर मतारोपण में कोई हममें संबंधित विश्वासों की सत्यता के प्रति दृढ़ कटिबद्धता स्थापित करता है।

दूसरे शब्दों में यहां दावा यह किया जा रहा है कि अगर शिक्षार्थी स्कूल छोड़ते समय कैथलिक धर्म में विश्वास तो करते, पर साथ ही यह भी मानते कि उसकी सच्चाई निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं है। मतलब कि वे उसको सही या गलत सिद्ध करने के लिए चर्चा करने को तैयार होते, तो हम उन्हें मतारोपित नहीं मानते। यह फिर भी संभव था कि उनके शिक्षकों ने उन पर मत लादने की कोशिश की हो पर उनकी कोशिश नाकाम रही हो। अगर शिक्षार्थी आस्थावान कैथलिक हों। पर इसके बावजूद उसके सिद्धान्तों को ऐसे सत्य नहीं मानें जिनमें कोई बदलाव नहीं किया जा सकता तो शिक्षक उन पर मतारोपण करने में असफल रहे हैं। और अगर वे असफल रहे हैं तो जाहिर है कि वे मतारोपण भी नहीं कर सके हैं।

ऐसे में मतारोपण की दूसरी अनिवार्य शर्त यह है कि मत आरोपित करने वाले को दूसरों के मन में ऐसे तर्कवाक्यों में अटल विश्वास स्थापित करना होता है जिन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता।

### विधि

अगर हम मतारोपण की पहली दो शर्तों को स्वीकार लेते हैं, तो हमें एक तीसरी शर्त भी स्वीकारनी होगी। इस शर्त का संबंध उस तरीके या विधि से है जिससे विश्वास या आस्थाएं स्थापित की जाती हैं। अगर हम यह मानते हैं कि केवल सिद्धान्त या मत (विषयवस्तु) ही आरोपित किए जा सकते हैं। और यह भी कि मतारोपित इंसान कहलाने के

लिए इन सिद्धान्तों को बिना सवाल उठाए सत्य मानना होता है (अटूट प्रतिबद्धता) तो फिर मतारोपण विश्वास पैदा करने की ऐसी प्रक्रिया ही हो सकती है जिसमें अतार्किक विधि का उपयोग होता हो। इसलिए क्योंकि किसी मत प्रणाली का आधार कुछ ऐसे बुनियादी तर्कवाक्य होते हैं जिन्हें हम तार्किक रूप से सिद्ध नहीं कर सकते। अर्थात्, ऐसे तर्कवाक्यों पर अटल विश्वास उनकी सच्चाई को तर्क संगत रूप से दर्शाने पर आधारित भी नहीं हो सकता। हमारे प्रतिमान उदाहरण में विश्वास जगाने की जिन अतार्किक तकनीकों का उल्लेख किया गया था उन्हें हम मतारोपण के लिए जरूरी न भी मानें, तो भी यह तो मानना ही होगा कि अटल विश्वास पैदा करने के लिए किसी ऐसे उपाय का इस्तेमाल जरूरी है जो तर्क संगत न हो।

## मंशा

प्रतिमान उदाहरण में शिक्षकों की मंशा कैथलिक धर्म के सिद्धान्तों में अटूट विश्वास पैदा करने की थी। क्या मतारोपण के लिए ऐसी मंशा का होना एक अनिवार्य शर्त है? या फिर ऐसी मंशा मतारोपण के कुछ उदाहरणों में संयोगवश ही मौजूद होती है? तय है कि यह महज संयोग नहीं हो सकता। ऐसा संभव नहीं कि अपने मत को आरोपित करने वाला व्यक्ति बस 'कभी-कभी' ऐसा विश्वास जगाना चाहता हो। मतारोपण की अवधारणा में मंशा का होना एक तार्किक आवश्यकता है। अगर हमने अटूट विश्वास को मतारोपण की एक जरूरी शर्त मान लिया है, तो फिर ऐसा भरोसा पैदा करने की मंशा का मौजूद होना भी जरूरी है।

मंशा को मतारोपण की अनिवार्य शर्त मानने में दिक्कत यह है कि मंशा हमेशा साफ-साफ नज़र नहीं आती। अपने मत को लादने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति हमेशा यह नहीं स्वीकारता कि वह अटल विश्वास पैदा करना चाहता है। बल्कि वह यह दावा भी कर सकता है कि ऐसा करने की उसकी कतई मंशा नहीं है। वह तो चाहता है कि उसके शिक्षार्थी खुद अपने लिए सोचें। किसी प्रश्न पर अपना निजी मत बनाएं। उसके सारे प्रयास इसी दिशा में हैं। यहां जरूरी है कि हम उसकी घोषित मंशा (जो मत आरोपित करने वाला कहता है कि वह कर रहा है) और वास्तविक मंशा (जो वह दरअसल करने की कोशिश कर रहा है) के बीच अंतर करें। दरअसल उसकी वास्तविक मंशा का प्रमाण हमें सिखाने-पढ़ाने की परिस्थिति का अवलोकन करने से ही मिल सकता है। जाहिर है कि शिक्षक से पूछकर असलियत नहीं जानी जा सकती।

हम जे.पी. व्हाइट से एक उदाहरण उधार लेकर उस पर गौर करते हैं। वे मार्क्सवाद या कैथलिकवाद के शिक्षक का उदाहरण देते हैं जो यह घोषणा करता है कि उसकी मंशा शिक्षार्थियों की मदद करना है ताकि वे सोच-समझ कर कठिन मसलों पर अपनी राय बना सकें। वे ऐसे शिक्षक को मत आरोपित करने वाला मानते हुए पूछते हैं:

क्या यह संभव हो सकता है कि उसकी घोषित मंशा दरअसल उसकी वास्तविक मंशा है? अगर सच में ऐसा हो तो वह शिक्षार्थियों को सवाल उठाने देगा। वह 'ईश्वर का अस्तित्व है' या 'इतिहास का पथ पहले से ही निर्धारित है' जैसे बुनियादी तर्कवाक्यों पर उठे सवालों पर बातचीत करेगा। वह सत्य का आभास देने वाले तर्कों का सहारा ले उन्हें टालेगा नहीं। न ही वह अतार्किक तकनीकों का उपयोग कर भरोसा जगाएगा। बल्कि वह अपने शिक्षार्थियों के साथ मिलकर यह जांचेगा कि कहीं उठाई गई शंका सच तो नहीं है। अगर उसका दिमाग इस हद तक खुला है तो क्या व्यवस्था के बाहर से उसे देखकर हम यह कहेंगे कि वह मतारोपण कर रहा है?... व्यवस्था के अंदर वाला शिक्षक ही मतारोपक होता है। अतः यह मानना कठिन है कि उसकी घोषित मंशा उसकी असली मंशा है।'

दूसरे शब्दों में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तार्किक दृष्टि से व्यक्ति की मंशा मतारोपण की अवधारणा से जुड़ी है। इस मंशा की प्रकृति ही वास्तविक मंशा होती है। यह जरूरी नहीं कि यह उसकी घोषित मंशा से मेल खाए। अगर दोनों में मेल हो तो कोई समस्या भी नहीं उठती है। पर अगर दोनों में साम्य न हो, तो सामान्य संदर्भ का प्रमाण यही दर्शाता है कि वास्तविक मंशा घोषित मंशा पर हावी हो जाती है।<sup>2</sup>

## मतारोपण तथा शिक्षण स्थिति में अंतर

ऊपर जो विश्लेषण किया गया है उसकी रोशनी में हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि हमारे स्कूलों में जो रोजमर्रा का शिक्षण चलता है उसमें मतारोपण का तत्व कितना है या कितना हो सकता है।

एक बात तो काफी साफ है। अगर शिक्षक की विषयवस्तु तथ्यात्मक है या वह कभी भी ऐसे तर्कवाक्यों (सिद्धान्तों) को समझाने की चेष्टा नहीं कर रहा जो बुनियादी रूप से विवादास्पद हों, तो फिर विषयवस्तु की कसौटी पर मतारोपण की संभावना हो ही नहीं सकती। गणित का उदाहरण ही लें। मान लें कि शिक्षक पहाड़े सिखा रहा है। या यह कि चतुष्कोणीय समीकरण कैसे हल किए जाते हैं। किसी रेखा को दो भागों में कैसे विभाजित किया जाता है या वह युक्लीड के ज्यामितीय प्रमाण समझा रहा है। इन सभी स्थितियों में मत-सिद्धान्त (डॉक्ट्रिन) जैसा कुछ नहीं है। जहां तक गणित की विषयवस्तु और तकनीकों का सवाल है, गणितज्ञ सहमत हैं कि 3 गुणा 2 बराबर 6 होते हैं। इस बात पर भी उनमें सहमति है कि विभिन्न समीकरणों का हल कैसे निकाला जा सकता है। ऐसे में यह कहना अजीब होगा कि अगर कोई शिक्षार्थी गणित कक्षाओं के बाद तरह-तरह के विभेदक समीकरणों का हल निकाल सकता है तो उस पर मत आरोपित कर दिए गए हैं।

ऐसी ही स्थिति विज्ञान शिक्षण में भी होती है। वैज्ञानिक गतिविधि स्वतः ही मतारोपण को असंभव बनाती है। मोटे तौर पर वैज्ञानिक विधि में आप किसी घटना को स्पष्ट करने के लिए एक परिकल्पना तैयार करते हैं। तब तमाम प्रयोगों द्वारा यह जांचते हैं कि वह अनुमान सही है या गलत। अगर वह गलत साबित होती है तो मूल परिकल्पना को या तो संशोधित किया जाता है या त्याग दिया जाता है। तब प्रयोगों का सिलसिला किसी नई परिकल्पना के साथ दोहराया जाता है। जाहिर है कि यहां किसी परिकल्पना के साथ चिपके रहने की कोई गुंजाइश नहीं है। अगर व्यक्ति अपनी परिकल्पना के विरुद्ध किसी भी सबूत को नहीं स्वीकारता तो वह वैज्ञानिक भी नहीं है। प्रमाण को नहीं स्वीकारने की ठीक ऐसी ही वृत्ति हमने अपने प्रतिमान उदाहरण में धार्मिक वक्तव्यों के संदर्भ में देखी थी। इसका बेहतरीन उदाहरण हमें विख्यात रूसी वैज्ञानिक लायसिंको में मिलता है। लायसिंको का मानना था कि किसी भी जीव द्वारा सीख कर ग्रहण की गई (एक्वायर्ड) विशेषताएं उसके बाद आने वाली पीढ़ियों को भी विरासत में मिलती हैं। सी.एम.बैग्ग ने अपनी रचना 'इंट्रोडक्शन टू जैनेटिक्स' में इस सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि 'इसकी पुष्टि के कोई प्रमाण नहीं मिलते'। वे ध्यान दिलाते हैं कि 'ऐसे किसी तंत्र की कल्पना करना भी कठिन है'। फिर क्या कारण था कि लायसिंको के विचारों को रूस में खासी मान्यता मिली। इस हद तक कि 'वे कृषि विज्ञानों की लेनिन अकादमी के अध्यक्ष बना दिए गए जबकि अनुवंशवाद के कई 'परंपरावादी' वैज्ञानिक सोवियत परिदृश्य से गायब ही हो गए'। बैग्ग का जवाब था:

इतना कहना ही काफी है कि मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास की दिशा तय करने में वातावरण की भूमिका ही सबसे महत्वपूर्ण है। इसी विचार को विस्तार दे समूचे जीव-जगत पर लागू मान लेना ज्यादा कठिन नहीं है। हम तब बाह्य परिस्थितियों को क्रम-विकास को दिशा देने वाला कारक मान सकेंगे। ऐसा क्रम-विकास जिसमें कमजोरों की छंटनी हो और ताकतवर बचे रहें। पर केवल इतना ही नहीं उन बाहरी स्थितियों को हम ऐसी सक्रिय शक्ति के रूप में भी देखेंगे जो पशुओं और वनस्पतियों की प्रत्येक पीढ़ी को प्रत्यक्ष रूप से बदलती हों। और इस प्रकार जो बदलाव हुए हों उनमें से कम से कम कुछ उनके वंशजों को विरासत में प्राप्त होते हों। परन्तु इस विचार का कोई तथ्यात्मक आधार नहीं है।<sup>9</sup>

दूसरे शब्दों में कहें तो वैज्ञानिक गतिविधि की प्रकृति ही ऐसी है जो विज्ञान में मतारोपण की संभावना के विरुद्ध है। अर्थात् लायसिंको के सिद्धान्त को ऐसे सत्य के रूप में पढ़ाना, जिस पर कोई सवाल उठाया ही न जा सके, अवैज्ञानिक बन जाना और मत को आरोपित करना कहलाएगा।

यह संभव है कि गणित और विज्ञान के शिक्षकों पर भी मतारोपण का आरोप लगे। पर यह आरोप इस कारण नहीं लगेगा कि वे इन विषय विशेष को पढ़ाते हैं। उदाहरण के लिए कोई, गणितज्ञ यह दावा कर सकता है कि ईश्वर ही

सबसे श्रेष्ठ गणितज्ञ है और सारा गणित उसी से उपजा है। या कोई वैज्ञानिक यह दावा कर सकता है कि केवल विज्ञान ही सार्थक है और कला के विषय समय की बर्बादी हैं। अगर गणितज्ञ या वैज्ञानिक ऐसे विवादास्पद सिद्धान्त परोसते हैं तो उनके सामने 'मतारोपक' का ठप्पा लगने का खतरा भी रहता है। पर गौर करने की बात यह है कि उनके इन सिद्धान्तों का गणित या विज्ञान की प्रकृति से कोई लेना-देना नहीं है।

अब अगर हम स्कूली पाठ्यक्रम के दूसरे विषयों पर नजर डालें तो स्थिति कुछ भिन्न दिखाई देगी। साहित्य, इतिहास, नागरिक शास्त्र, नैतिक शिक्षा या धार्मिक शिक्षा जैसे सभी विषयों के कुछ पक्ष ऐसे हैं जो मूलतः विवादास्पद हैं। अतः अगर इनके शिक्षक मतारोपकों की श्रेणी में नहीं गिने जाना चाहते तो उन्हें पढ़ाते समय बेहद सावधान रहना होगा। मैंने जानबूझ कर 'सावधान' रहने की बात की है। क्योंकि मसला केवल उनके द्वारा पढ़ाए जा रहे विषय की प्रकृति ही तय नहीं करती। मतारोपण के विश्लेषण ने दो बातें साफ कर दी थीं। पहली यह कि विवादास्पद विषयवस्तु के साथ शिक्षक में अटल विश्वास बैठाने की मंशा होनी चाहिए। दूसरे, अतार्किक तरीकों का उपयोग भी मौजूद होना चाहिए। मतलब कि इतिहास या धर्म का शिक्षक होना मात्र यह तय नहीं करता कि वह मतारोपक है या नहीं।

इस संबंध में छोटे बच्चों के शिक्षकों को एक खास समस्या का सामना करना पड़ता है। अक्सर कहा जाता है कि बच्चों में - खासकर 5 से 8 साल के नन्हों में - चीजों के कारण समझने की क्षमता नहीं होती। उदाहरण के लिए, वे यह नहीं समझ सकते कि उन्हें अपने हमउम्र साथियों के प्रति द्वेष क्यों नहीं रखना चाहिए। झूठ क्यों नहीं बोलना चाहिए। या वादे क्यों नहीं तोड़ने चाहिए। इसलिए दावा किया जाता है कि नन्हे बच्चों के शिक्षक अपने शिक्षार्थियों पर मत लादने पर बाध्य होते हैं। पर जाहिर है कि यह जरूरी नहीं है। अव्वल तो छोटे बच्चों को भी एक हद तक कारण समझाए जा सकते हैं। अगर बच्चा पूछता है कि चोरी क्यों नहीं करनी चाहिए, तो हम उसे दूसरों की भावनाओं का खयाल रखने की बात समझा सकते हैं। अगर हम यह भी मानें कि ऐसे स्पष्टीकरण बच्चों के लिए निरर्थक हैं। या यह कि एक हद के बाद वे निरर्थक बन जाते हैं। जैसे अगर बच्चा तब यह सवाल करे कि दूसरों की भावनाओं का सम्मान करना क्यों जरूरी है। फिर भी यह कोशिश शिक्षक को मत आरोपित करने वाला नहीं बनाती। यह सच है कि शिक्षक बच्चों द्वारा नैतिक तर्कवाक्यों को मनवाने के लिए जो प्रयास करते हैं वे तर्क पर आधारित नहीं होते। वे इस अर्थ में अतार्किक होते हैं कि तार्किक कारण बच्चों के लिए मायने ही नहीं रखते। सो शिक्षक उन्हें विश्वास दिलाने के लिए दूसरी तरह की तकनीकें अपनाते हैं। जैसे वे अपने आचरण से उदाहरण पेश करते हैं, किसी की तारीफ या निन्दा करते हैं। ऐसे में अगर हम यह मानते हैं कि अधिकतर दार्शनिक सहमत हैं कि बुनियादी नैतिक तर्कवाक्यों को सही या गलत साबित नहीं किया जा सकता। या कि वे मूलतः विवादास्पद ही होते हैं। तो फिर हमें यह भी मानना होगा कि कि मतारोपण के लिए जो आवश्यक स्थितियां हैं उनमें से कुछ ऊपर बताई गई परिस्थितियों में मौजूद हैं। इसके बावजूद अगर शिक्षक की मंशा इन नैतिक तर्कवाक्यों पर अटल विश्वास स्थापित करने की नहीं है तो वह मतारोपण नहीं कर रहा। वह कुछ नैतिक तर्कवाक्यों को स्वीकारने के लिए बच्चों को प्रभावित भर कर रहा है। हो सकता है कि ऐसे प्रभावित करना भी आपत्तिजनक हो। पर वह एक दूसरा ही सवाल है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रभावित करना अपने-आपमें मतारोपण करना नहीं है। बशर्ते बच्चे अंततः अपने समाज द्वारा अपनाए गए नैतिक मूल्यों को खुद भी जांच सकें। जिन मूल्यों का पालन करना बचपन में उन्हें सिखाया गया था वे सही हैं या गलत इस पर विचार करने को स्वतंत्र हों। तो यह कहा जा सकता है कि उन पर मतारोपण नहीं हुआ है। फिर भी यहां एक खतरा है। खतरा इस बात का कि यह बड़ी आसानी से भूला जा सकता है कि छोटे बच्चों के साथ अपनाए गए उपाय दरअसल अस्थायी हैं। ऐसे में संभव है कि हम उनसे बाद में भी इन तर्कवाक्यों पर विवेकपूर्ण चर्चा नहीं करें। अगर विवेक कभी भी शिक्षक की सत्ता को लांघ न सके तो यह भी साफ हो जाएगा कि शिक्षक की घोषित मंशा उसकी असली मंशा नहीं है। ऐसे में हम शिक्षक पर मतारोपक होने का ठप्पा चस्पा कर सकेंगे।

छोटे बच्चों के इस उदाहरण का सामान्यीकरण किया जा सकता है। उदाहरण सुझाता है कि सभी विषयों के, सभी उम्र के बच्चों के शिक्षकों को सचेत रहना होगा कि वे दरअसल क्या करने की कोशिश कर रहे हैं। अगर वे बच्चों पर मत लादने के बदले उन्हें सच में शिक्षित करना चाहते हैं तो उन्हें कुछ बातों पर विचार करना होगा। उन्हें सोचना



होगा कि उनके व्यापक लक्ष्य क्या हैं। और उनके खास उद्देश्य क्या हैं। उन्हें अपने पढ़ाने के तरीके पर, वे बात को किस तरह से रखते हैं पर, सोचना होगा। केवल इतना भर नहीं, उन्हें पढ़ाए जा रहे विषय की तर्कसंगत प्रकृति पर भी चिंतन करना होगा। अगर वे इन मसलों पर सोचते ही नहीं तो उन पर वे अपना कोई नजरिया भी नहीं बना सकेंगे। ऐसी स्थिति में वे स्वयं किस तरह के शिक्षक हैं पर भी उनका नजरिया नहीं बन सकेगा।

### निष्कर्ष : मतारोपण में गलत क्या है?

मैंने शुरू में ही कहा था कि अधिकतर लोगों के लिए 'मतारोपण' एक निन्दनीय शब्द है। अब अंत में मैं यह भी जांचना चाहूंगा कि इसे आखिर निन्दनीय क्यों माना जाता है? यह भी कि इसकी भर्त्सना करना उचित क्यों है? ऐसा करना हमें शिक्षण और मतारोपण की जुड़वां अवधारणाओं की तुलना करने का मौका भी देगा।

हमने पहले यह माना था कि मतारोपण हमेशा सिद्धान्तों का होता है। मगर हम अब यह भी देख चुके हैं कि शिक्षण की किसी परिस्थिति में विषयवस्तु में सिद्धान्त मौजूद भी हों तो भी यह जरूरी नहीं कि मतारोपण भी किया जा रहा हो। अर्थात् शिक्षण की परिस्थिति में उस विषय से जुड़े सिद्धान्तों की मौजूदगी संगत है। इसलिए धार्मिक शिक्षा, राजनीतिक शिक्षा या किसी भी दूसरी तरह की शिक्षा जिसमें विवादास्पद सिद्धान्त हों, उनकी बातचीत करना सही ही है। तो फिर राजनीति की शिक्षा राजनीतिक मतारोपण में कब बदल जाती है? हमारा विश्लेषण कहता है कि ऐसा तब होता है जब शिक्षक उस विवादास्पद राजनीतिक मुद्दे पर दूसरों के विचार रखना बंद कर देता है। जब वह मुद्दे पर केवल अपना ही नजरिया रखता है। साथ ही यह भी चाहता है कि शिक्षार्थी उसके कहे को वेद वाक्य या ध्रुव सत्य मानें। जाहिर है कि तब उसकी मंशा शिक्षार्थी के विवेक पर हावी होने की ही है।

हम एक संक्षिप्त नजर पीटर्स की 'शिक्षा' की परिभाषा और मतारोपण के संबंध पर डालते हैं तब हम यह सवाल भी उठाएंगे कि मतारोपण की तुलना में शिक्षा को बेहतर क्यों माना जाता है। पीटर्स कहते हैं "शिक्षा का तात्पर्य है कि नैतिक रूप से स्वीकार्य तरीके से, सायास, कुछ सार्थक संप्रेषित किया जा रहा है"। इस परिभाषा में 'कुछ सार्थक' का प्रयोग विषयवस्तु के संदर्भ में किया गया है। अब यह तर्क तो किया नहीं जा सकता कि धार्मिक, राजनीतिक या नैतिक चर्चा या बहस 'सार्थक' शीर्षक के तहत नहीं आ सकते। इसका मतलब हुआ कि मतारोपण शिक्षा से भिन्न इसलिए नहीं है कि मतारोपण में सिद्धान्तों का अवैध आदान-प्रदान किया जाता है। बल्कि अंतर यह है कि मतारोपण में परिभाषा के दूसरे भाग में बताई गई प्रक्रिया के मानक का उल्लंघन किया जाता है। मतारोपण व्यक्ति के विवेक का सम्मान नहीं करता जो नैतिक रूप से अस्वीकार्य है, इसलिए उसे शिक्षा माना भी नहीं जा सकता।

यहां जिस नैतिकता की गुहार लगाई जा रही है उसके सबसे मजबूत पैरोकार हैं जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कान्ट (1724-1804)। उन्होंने कहा:

अब मैं कहता हूं कि मनुष्य और प्रत्येक विवेकशील जीव, स्वयं अपना ही लक्ष्य होता है। किसी दूसरे की इच्छा शक्ति के मनमाने उपयोग के लिए एक माध्यम मात्र नहीं। अपने सभी कामों में, चाहे वे काम स्वयं के लिए हों या दूसरे विवेकवान जीवों के लिए, उसे हमेशा लक्ष्य के रूप में ही देखा जाना चाहिए।<sup>4</sup>

परन्तु मत आरोपित करने वाले इस सिद्धान्त को तोड़ते हैं। वे अपने श्रोताओं को माध्यम मानते हैं। उनका मकसद अपने पसंदीदा सिद्धान्तों में लोगों की आस्था जगाना होता है। वे तटस्थ चिंतन नहीं कर पाते। 2 सितंबर 1973 के 'संडे टाइम्स' ने 'प्रावदा' को उद्धृत किया था:

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का मतलब यह नहीं कि दुनिया की दो सामाजिक प्रणालियों के बीच टकराव खत्म हो गया हो। यह संघर्ष तब तक जारी रहेगा जब तक साम्यवाद अंतिम रूप से विजयी नहीं हो जाता। विचारधाराओं के संघर्ष की समस्याएं देशों के बीच समझौते का विषय नहीं हो सकतीं।

6 जुलाई 1973 के 'द टाइम्स' में पीटर निकोल्स की एक रपट छपी गई। यह रपट भ्रम से परे होने के कैथलिक सिद्धान्त पर थी। एक स्विस धर्मशास्त्री डॉ. हान्स क्युंग ने इस सिद्धान्त की आलोचना की थी। इससे चिंतित हो

वैटिकन के सेक्रेड कांग्रिगेशन फॉर द डॉक्ट्रीन ऑफ फेथ ने एक दस्तावेज प्रकाशित किया जिसमें पोप के अखंडनीय होने के सिद्धान्त की फिर से पुष्टि की गई। पीटर निकोल्स ने लिखा :

यह दस्तावेज उन परिस्थितियों की चर्चा करता है जिनमें चर्च तथा उसकी शैक्षिक सत्ता को भ्रम से परे घोषित किया गया है। अर्थात् इन परिस्थितियों में वे कभी गलत हो ही नहीं सकते।

यह तब घटता है जब विश्व भर में फैले बिशप (कैथलिक धर्म के अधिकारी), संत पीटर के उत्तराधिकारी (पोप) की सहभागिता के साथ किसी अपरिवर्तनीय धर्म सिद्धान्त को रखते हैं। यह तब और भी स्पष्ट रूप से घटता है जब सभी बिशप अपने दृश्य मुखिया (पोप) के साथ सामूहिक रूप से किसी ऐसे धर्म सिद्धान्त को परिभाषित करते हैं जिसकी अनुपालना की जानी हो। तब भी जब पोप अपने पद पर रहते हुए, धर्म सत्ता के चलते आस्था या नैतिकता संबंधी किसी धर्म सिद्धान्त को परिभाषित करते हैं जिसकी अनुपालना सार्विक चर्च को करनी हो।

ऊपर उल्लिखित दोनों ही मामलों में, अर्थात् राजनीतिक और धार्मिक दोनों उदाहरणों में, एक संदेश साफ सुनाई देता है। 'जैसे हम सोचते हैं ठीक वैसे ही सोचो, सवाल उठाने की गुस्ताखी मत करो'। कान्ट ने नैतिकता के बारे में जो कहा था उससे अधिक विपरीत आचरण भला और क्या होगा? मतलब कि मतारोपण नैतिक रूप से निन्दनीय और शिक्षा के विरुद्ध है। कम से कम तब तक, जब तक हम यह मानने को तैयार न हों कि लोगों को माध्यम मात्र मानना नैतिक रूप से स्वीकार्य है।

इस तर्क के बावजूद हम यह नकार नहीं सकते कि आमतौर पर हम यही चाहते हैं कि शिक्षार्थी हमारे मूल्यों को मानें। उदाहरण के लिए, वे भी यह विश्वास करें कि कुछ कलाकृतियां दूसरों से बेहतर हैं। कि विज्ञान मूल्यवान है। कि कुछ आचरण नैतिक रूप से अस्वीकार्य हैं। या कि मानविकी के विषय भी सार्थक हैं। पर हमें तर्क रखते हुए बढ़ना चाहिए। शिक्षार्थियों पर भरोसा करते हुए कि देर-सबेर वे भी इन विचारों को देख-समझ सकेंगे। न कि जोर-जबरदस्ती का उपयोग कर या फिर तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर। मतलब यह है कि मुद्दा दरअसल अपने मूल्यों को सामने रखने और उन्हें साझा करने की स्वभाविक इच्छा का नहीं है। मुद्दा हर हाल में अपने मूल्यों और विश्वासों को दूसरों पर कुछ इस तरह थोपने का है ताकि वे चिपक जाएं। ऐसा करना निन्दनीय है। इसलिए क्योंकि यही बंद दिमागों को, कट्टरवाद को पैदा करता है। और अंततः इस भ्रांति को भी कि अपने मत या अपनी विचारधारा के नाम पर किसी को यातना देना या उसका कल्ल कर देना तक उचित है। ◆

## टिप्पणी

- 1) पीटर्स, आर.एस. (संपादित) 'द कॉन्सेप्ट ऑफ एज्युकेशन' में व्हाइट, जे. पी. का लेख 'इन्डॉक्ट्रिनेशन' (लंदन, रूटलेज एण्ड कीगन पॉल, 1967) पृ. 182-3।
- 2) यह स्पष्ट करना जरूरी लगता है कि यहां जिस मंशा की बात हो रही है वह अटल विश्वास पैदा करने की मंशा है न कि मतारोपण की। क्योंकि अटल विश्वास पैदा करने की मंशा मतारोपण की परिभाषा का हिस्सा हो ही नहीं सकता। ठीक उसी तरह जैसे 'चार पांवों वाली गाय', 'गाय' की परिभाषा का हिस्सा नहीं हो सकता।
- 3) बैग, सी.एम., 'इंट्रोडक्शन टू जैनेटिक्स' (लंदन, एडिनबर्ग युनिवर्सिटी प्रेस, 1959) पृ. 229, 231। यहां यह जोड़ दूं कि इस पुस्तक में जो कहा गया है वह मुझे अब भी सही लगता है। लामार्क ने क्रम विकास का जो सिद्धान्त रखा था लायसिंको के विचारों का उससे निकट का संबंध है। बिना विवेचना किए यह कहना कि ये विचार जाहिराना तौर पर गलत हैं मुझे असहज बनाता है। समसामयिक 'क्रिएशनवादियों' का तरीका शायद एक बेहतर उदाहरण होता, पर उसका दस्तावेजीकरण करने में अधिक समय लगता।
- 4) कान्ट की रचना 'ग्राउन्डवर्क ऑफ द मैटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स' का एच. जे. पेटन का अनुवाद (लंदन, हचिन्सन, 1949) पृ. 95।

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा